
दलितों की स्थिति में सुधार हेतु समाज सुधार आंदोलनों द्वारा किए गए प्रयास

धीरज कुमार

शोधकर्ता, इतिहास विभाग

भू.ना.मं.वि.वि. मधेपुरा ;बिहार

कायस्थ टोला, वार्ड नं०-२८,

जिला-सहरसा ।

सारांश :

राष्ट्रीय आंदोलनों के नेताओं के लिए सबसे बड़ी चुनौती भारत के विभिन्न सामाजिक संगठनों के अलग-अलग स्वार्थों को एकीकृत कर औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संयुक्त आन्दोलन की ओर प्रवृत्त होने की थी । इस यूनिट में हमलोग उपनिवेशवाद के विरुद्ध दलितों का समर्थन प्राप्त करने के तारतम्य से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा दलितों के जीवन को प्रभावित करने वाले मुद्दे से संबंधित की गयी पहल पर विचार करेंगे । भारत में ब्रिटिश शासन के मद्देनजर जो प्रशासनिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन हुए उसने और विशेषकर दलितों के हित संरक्षण हेतु उठाये गये कदम ने दमनकारी जाति व्यवस्था के खिलाफ उनके अव्यक्त असंतोष को व्यक्त करने का अवसर प्रदान किया । दलित बुजिगियों ने प्रादेशिक और राष्ट्रीय स्तर पर अपने सामाजिक समूह से जुड़े लोगों का अपने सामाजिक और राजनीतिक अधिकार का दावा प्रस्तुत करने के लिए लामबंद करने की कोशिश की । ब्रिटिश शासन से आजादी की अपेक्षा आंतरिक उत्पीड़न से आजादी दलित बुजिगियों का वांछित लक्ष्य था । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने दलितों की पीड़ा को संबोधित करने की जरूरत को महसूस करते हुए अस्पृश्यता की समाप्ति और सामाजिक समानता तथा न्याय की तकालत की । राष्ट्रवादियों द्वारा दलित नेताओं के लोकतांत्रिक अधिकार की मांग को समर्थन देने की कवायत शुरू हुई । इस इकाई में आप ब्राह्मणवादी परंपरा के खिलाफ दलितों द्वारा प्रदत्त एक वैकल्पिक वैचारिक परंपरा के प्रयास से परिचित होंगे । आप यह जानेंगे कि दलित समाज की समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रवादी नेतृत्व ने किस तरह के कदम उठाए और कैसे अंततः दलित नेतृत्व पूना समझौता के तहत पृथक निर्वाचन मंडल की अपनी

मांग की जगह संयुक्त निर्वाचन मंडल को स्वीकार करने पर राजी हुआ । दलितों की स्वतंत्रता और सशक्तिकरण के परिप्रेक्ष्य में गांधी और अंबेडकर के विचारों से अलग होने के साथ ही साथ स्वाधीनता आंदोलन के प्रति दलित बुज्जीवियों के संदेह को जान पाएंगे ।

प्रस्तावना :-

भारत में दलित चाहे किसी भी प्रांत के हों जाति व्यवस्था के नाम पर वे दमन के विभिन्न रूपों के शिकार हुए । यह भी सही है कि जाति के नाम पर किए जाने वाले शोषण के खिलाफ समय-समय पर लोगों ने अपनी आवाजें भी बुलन्द की । यहां पर बो(धर्म भक्ति आन्दोलन और अन्य जाति विरोधी समानाधिकारवादी आन्दोलन का उल्लेख कर सकते हैं । हालांकि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत के विभिन्न प्रांतों ने दलितों द्वारा शुरू किए गये संगठित आन्दोलनों के भीतर से दलितों को प्रदत्त सामाजिक पहचान को चुनौती देने वाले स्वर के साथ-साथ निर्णायक मंडल समिति में उनके अधिकार का मांग भी सुनाई देने लगी ।

१९वीं शताब्दी के सामाजिक-धार्मिक सुधारकों ने जाति व्यवस्था के नाम पर किए जाने वाले सामाजिक दमन के प्रति आगाह किया था लेकिन उनकी निंदा के में कोई ऐसा क्रियात्मक एजेंडा नहीं दिखाई पड़ा जिससे दलितों के विश्वास को जीता जा सके ।

राष्ट्रीय आन्दोलन और दलित मुद्दों का एकीकरण :-

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से दलित नेतृत्व अपने अधिकारों के प्रति अत्यंत मुखर हो गया । इस बात की सामान्य रूप से चर्चा होने लगी कि जाति आधारित जनगणना का समावेशन, जाति के आधार पर लोक कल्याण के उपाय का प्रावधान, स्थानीय निकायों में दलितों का नामांकन आदि औपनिवेशिक शासन की नीतियों ने दलित नेतृत्व को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया कि वे सामाजिक बंधन से मुक्ति के साथ साथ सशक्तिकरण के लिए भी दृढ़ प्रतिज्ञा हो । उदाहरण के लिए १९२८ में केन्द्रीय विधान सभा में पारित प्रस्ताव को देखा जा सकता है । इस सभा ने गवर्नर जनरल परिषद को यह प्रस्ताव भेजा कि वे स्थानीय शासन को निर्देशित करें कि वे अस्पृश्यों और अन्य उत्पीड़ित वर्गों को

शिक्षा के लिए विशेष सुविधा मुहैया कराये, विशेष रूप से उनके शिक्षकों के प्रशिक्षण कक्षाओं में सीटों का आरक्षण के साथ साथ सभी लोक सेवाओं के द्वार भी उनके लिए खोल दिये जायें ।

प्रतिनिधित्व की राजनीति :-

१९२० के दशक में जब सरकार को व्यापक आधारभूत और प्रतिनिधिक बनाने की दृष्टि से निर्वाचन संबंधी सुधारों के लिए प्रक्रिया आरम्भ की गई तब स्थानीय समाज में दलितों के प्रतिनिधित्व का मुद्दा विभिन्न दृष्टिकोणों के साथ सामने आया । १९२० के दशक के अंत में दलितों के बीच राष्ट्रीय स्तर पर स्पष्ट रूप से पहचान में आनेवाले दो मुख्य समूह, एक एम.सी. राजा का और दूसरा बी.आर अम्बेडकर का, सामने आये । एम.सी. राजा और उनके समर्थकों जिनका अखिल भारतीय दलित वर्ग पर वर्चस्व था ने बिना पृथक निर्वाचन व्यवस्था के साइमन कमीशन के प्रस्ताव को सवीकार न करने का निर्णय लिया ।

साम्प्रदायिक निर्णय :-

दलितों के राजनीतिक अधिकारों को सुनिश्चित करने के क्रम में दूसरा महत्वपूर्ण घटनाक्रम अंग्रेजों द्वारा लिए गये सांप्रदायिक निर्णय की घोषणा थी । सांप्रदायिक निर्णय में सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों में हिन्दुओं के साथ दलितों को मताधिकार का हक तो दिया ही गया साथ ही उन्हें दलित वर्ग के विशेष ७१ निर्वाचन क्षेत्रों में भी २९ वर्ष तक के लिए एक अतिरिक्त मत का अधिकार भी प्रदान किया गया । सांप्रदायिक निर्णय की घोषणा को हिन्दुओं और दलितों के बीच के मनमुटाव को और बढ़ा देने की कोशिश को एक स्पष्ट संकेत के रूप में देखा गया । इसने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के समक्ष एक गंभीर चुनौती प्रस्तुत की । गांधीजी ने पृथक निर्वाचन समूह के रूप में दलितों के अलगाव का विरोध करते हुए लिखा जहाँ तक हिन्दू धर्म का सवाल है पृथक निर्वाचन इसे स्पष्ट रूप से खण्डित और नष्ट भ्रष्ट कर देगा । मेरे लिए इन वर्गों के प्रश्न मुख्य रूप से नैतिक और धार्मिक है । मैं समझता हूँ कि हिन्दू जाति की कोई भी तपस्या उनके द्वारा सोची समझी रणनीति के तहत दलितों को सदियों से जिन अवनति में भेजा गया उसकी क्षतिपूर्ति नहीं कर सकती है ।

पूना समझौता :-

दलितों के प्रतिनिधित्व के मुद्दे पर भारतीय नेतृत्व में किसी प्रकार का समझौता नहीं हो पाया और इस आधार पर ब्रिटिश सरकार ने अपने सांप्रदायिक निर्णय की घोषणा को उचित ठहराया। इस परिस्थिति में दलितों के हितों की सुरक्षा के लिए सरकार ने इस योजना की घोषणा की। पर गांधी ने नैतिक अस्त्रा के विभिन्न वर्गों के भारतीय नेताओं पर दबाव डाला कि वे पृथक निर्वाचन और संयुक्त निर्वाचन के बीच समझौतावादी सूत्रा पर कार्य करें। दलितों के नेतृत्व के मुद्दे पर गांधी के दृष्टिकोण की मुखालपफत करने के बावजूद अंबेडकर गांधी के प्रस्ताव को इस शर्त के साथ मानने को तैयार हो गये कि यह योजना दलितों को सांप्रदायिक निर्णय की अपेक्षा ज्यादा आश्वस्त कर सके। गांधी जब यरवदा जेल में बंद थे उस समय अंबेडकर ने उनसे मुलाकात की और यह आशवासन प्राप्त किया कि प्रस्तावित योजना में उनके वर्ग का हित सुरक्षित रहेगा।

पूना समझौता की पुष्टि के लिए हिन्दू नेताओं द्वारा बंबई में बुलाये गये सम्मेलन में अंबेडकर ने कहा था - मैं इस बात से बेहद आश्चर्यचकित था कि मुझमें और मि० गांधी में इतनी समानता थी मुझे केवल इसी बात का खेद था कि श्री गांधी ने गोलमेज सम्मेलन में जो अपना रुख स्पष्ट किया वह पहले उनमें क्यों नहीं दिखा। अगर उन्होंने अपने विचार और मनोभाव पहले ही व्यक्त कर दिये होते जैसा कि उन्होंने अब किया है तो मैं समझता हूँ कि इस तरह की अग्नि परीक्षा से गुजरना उनके लिए जरूरी नहीं होता। ;टाईम्स ऑफ इंडिया, २६ सितम्बर १९३२

इसी सम्मेलन में इसके अध्यक्ष ने इन शब्दों में एक प्रस्ताव बनाया ' इस सम्मेलन में यह समाधान संकल्प लिया जाता है कि अब से हिन्दुओं में कोई भी अपने जन्म के कारण अछूत नहीं माना जायेगा और जिन्हें अबतक ऐसा माना गया है उन्हें भी सार्वजनिक कुँओं, शासकीय विद्यालयों, सार्वजनिक सड़कों एवं सभी सार्वजनिक संस्थानों के उपयोग के परिप्रेक्ष्य में अन्य हिन्दुओं की तरह ही अधिकार प्राप्त होंगे। ये अधिकार पहले अवसर पर ही वैधानिक मान्यता प्राप्त होंगे और स्वराज संसद के समय तक इसे वह मान्यता नहीं मिलती है तो यह स्वराज संसद के आरंभिक अधिनियमों में से एक होगा।

राष्ट्रीय आंदोलन पर दलितों का दृष्टिकोण :-

औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध विभिन्न जन-आंदोलनों में दलित जनता की भागीदारी के अलावा राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं को दलित नेतृत्व के एक वर्ग को राष्ट्रीय आन्दोलन में दलितों के साथ शक्ति के बंटवारे को लेकर कांग्रेस की ओर से प्रतिबन्धता के अभाव की निंदा की और सामाजिक समानता की दृष्टि से उच्च वर्ग के नेतृत्व की प्रतिबन्धता के प्रति गंभीर संदेह व्यक्त किया। दलितों द्वारा दमन और शोषण का जो समाना किया गया था उसके प्रति अंबेडकर इतने विंचित थे कि उनके लिए बिना आंतरिक दमन की समाप्ति के किसी भी प्रकार का युद्ध कोई महत्व नहीं रखता था। अंबेडकर की मान्यता थी कि दलितों के समान अधिकारों को सुनिश्चित किये बिना राजनीतिक आजादी महत्वहीन है। उन्होंने कहा “भारत में शासन वर्ग जिस आजादी के लिए संघर्षरत था वह भारत के शोषित वर्ग पर शासन करता है। उन्होंने लिखा - हालांकि राष्ट्र का एक अर्थ विभिन्न वर्गों से है, दार्शनिक रूप में यह सम्भव हो सकता है कि एक राष्ट्र को एक इकाई के रूप में माना जाये, पर समाजशास्त्रीय दृष्टि से इसे कई वर्गों से मिलकर बना नहीं माना जा सकता और देश की आजादी अगर सही है तो इसे सभी वर्गों, विशेषकर शोषित वर्ग के रूप में व्यवहृत होने वालों के लिए होना चाहिए।

‘मुझे विश्वास है कि बहुतों का ऐसा सोचना है कि स्वराज संविधान के अंतर्गत बहुसंख्यक के अत्याचार के खिलाफ अपनी रक्षा के परिप्रेक्ष्य में अगर कोई वर्ग विशेष राजनीतिक अधिकार पाने का अधिकारी है तो वह है शोषित वर्ग। निःसंदेह यही दो वर्ग हैं जो असितत्व की लड़ाई में अपने को बनाए रखने की स्थिति में नहीं हैं। वह धर्म जिससे वे बांध दिये गये थे उसने उन्हें सम्मानजनक स्थान प्रदान करने के बजाय ऐसे कोढ़ी के रूप में कलंकित किया जो सामान्य मेल मिलाप के भी योग्य नहीं था। आर्थिक रूप से यह वर्ग अपने दैनिक आहार के लिए पूरी तरह से उच्च जाति के हिन्दुओं पर निर्भर था। उनके लिए जीने का सारे रास्ते बन्द कर दिये गये थे बल्कि पूरे हिन्दू समाज में हर तरफ उनके लिये सभी संवाचित द्वार को बन्द करने के प्रयास किये भी गये ताकि शोषित वर्ग को जीवन के पैमाने पर किसी भी तरह के विकास से वंचित किया जा सके। वस्तुतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि हर गाँव में हिन्दू जाति, जो खुद विभाजित थी, शोषित वर्ग के विरुद्ध हमेशा षडयंत्रा के रूप में खड़ी रहती थी ताकि उसे क्रूरतम रूप में दबाया जा सके।

‘हमारा मानना है कि हमारे अलावा कोई भी हमारे कष्टों को दूर नहीं कर सकता और हम जाहिर तौर पर इस राजनीतिक शक्ति का कोई भी अंश हमारे पास तब तक नहीं आ सकता है जबतक कि यह ब्रिटिश सरकार अपने इसी रूप में रहती है ;केवल स्वराज संविधान के तहत ही हमें अपने हाथों में राजनीतिक शक्ति प्रदान करने की कोई संभावना है, जिसके बिना हम अपने लोगों को त्राण नहीं दिलवा सकते । ’

भारत की आजादी की लड़ाई जब अपनी चरणावस्था पर थी तब दलित बुजिजीवियों ने इस आधार पर कि उच्च जाति के हिन्दू नेतागण अपने अधिकार को दलितों के साथ साझा करने को इच्छुक नहीं थे ब्रिटिश सरकार के प्रति व्यापक रूप में अपना समर्थन व्यक्त किया । उनकी मान्यता थी कि सामाजिक क्रांति और दलितों को समानता प्रदान किये बिना अगर राजनीतिक नेतृत्व में कोई परिवर्तन होता है तो वह दलितों के उपर उच्च जाति के लोगों की पकड़ को और भी मजबूत बनायेगा । गेल ओमवेट ने महाराष्ट्र, आंध्र और कर्नाटक में दलित आंदोलन को विश्लेषित करने हुए पाया कि ‘दलित आन्दोलन और समग्रता में जाति विरोधी आन्दोलन भारत में कुलीन नियंत्रित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अपेक्षा अधिक लोकतांत्रिक और सत् राष्ट्रवादी थे।

यहाँ यह घातक्य है कि दलित बुजिजीवियों ने औपनिवेशिक विरोधी आन्दोलन के बजाय अपने सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों को प्राथमिकता देते हुए उसकी पुरजोर वकालत की । उनकी राष्ट्रियता की अवधारणा विद्यमान असमानताओं के उन्मूलन और जीवन के हर क्षेत्र में समान अधिकारों की प्राप्ति पर आधारित थी । मुख्यधरा के राष्ट्रवादी नेताओं के लिए ब्रिटिश अत्याचार के प्रति भारतीयों को संगठित कर अंग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए मजबूर करना उनका मुख्य लक्ष्य था । यहाँ यह बात भी जान लेना महत्वपूर्ण है कि दलितों के समूह में भी मतैक्य नहीं था और दलित नेतृत्व में विभिन्न स्तरों पर पर्याप्त मतभिन्नता व्याप्त थी । बंगाल के तेभागा आन्दोलन की तरह बहुत से लोकप्रिय आन्दोलनों में अपनी जाति के नेताओं के न चाहने के बावजूद दलित जनता ने बड़ी संख्या में भाग लिया।

निष्कर्ष :-

भक्ति, बौ(धर्म या अन्य धर्मिक आंदोलनों के रूप में जाति विरोधी विचारधरा की ऐतिहासिक परंपरा के अलावा ब्रिटिश शासन द्वारा किये गये परिवर्तनों ने दलित समाज के एक वर्ग को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया कि वे समाज द्वारा प्रदत्त अपनी सामाजिक पहचान को चुनौती देने के साथ साथ अपने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों पर दृढ़तापूर्वक दावा कर सके । अपनी सामाजिक गरिमा और न्याय के अपने दावे को न्यायसंगत बनाने हेतु वैकल्पिक परंपरा को निर्मित के तहत दलित नेतृत्व ने निर्णय निर्धारण प्रक्रिया में राजनीतिक सत्ता प्राप्ति के साथ साथ शिक्षा और रोजगार के अवसर प्रदान करने के लिए मोल भाव करना शुरू कर दिया । राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं, विशेषकर गांधी ने दलित समस्या को प्राथमिकता धर्मिक विषय के रूप में देखा और राजनीतिक मुक्ति के वृहत्तर कार्य के लिए वे हिन्दुओं में किसी भी प्रकार का विभाजन नहीं होने देना चाहते थे । गांधी ने कहा 'अस्पृश्यता जड़ और शाखा के उन्मूलन बिना हिन्दुत्व के सम्मान की रक्षा नहीं हो सकती । गांधी को अपने इस निर्णय के द्वारा विभिन्न पृथक समूहों को एक साथ लाने में सफलता मिली । जबकि गांधी और अन्य मुख्यधरा के राष्ट्रवादी नेतागण अंग्रेजों के खिलाफ भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों को एकजुट करने के प्रति चिंतित थे वहीं दलित बुजिर्गों के एक वर्ग का दृढ़ विश्वास था कि दुख भोग के मौजूदा हालात से दलितों की मुक्ति और शक्ति संपन्नता के बिना किसी प्रकार की भी राजनीतिक आजादी उन्हें समानता का अधिकार दिलाने में सहायक नहीं हो सकती । इसलिए राष्ट्रीय आन्दोलन में दलितों को संगठित करने में मुख्यधरा के राष्ट्रवादी नेतृत्व के समझ पैदा हुई चुनौती के साथ साथ ऊँची जाति के प्रति दलित नेतृत्व की दुविधाओं को समझना नितांत आवश्यक है ।

संदर्भ -ग्रंथ

०१. सिंह, रामगोपाल, डॉ० अम्बेडकर सामाजिक न्या एवं परिवर्तन नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, २००६
२. करी धनन्जय, डॉ० बाबा साहेब अम्बेडकर जीवन चरित, दिल्ली १९९६
३. गुप्ता, विश्वप्रकाश - भीमराम अम्बेडकर : व्यक्ति और विचार, राध पब्लिकेशन, नई दिल्ली २००८
४. भटिया के० एल० - सोशल जस्टिस ऑफ अम्बेडकर, नेशनल नई दिल्ली ।
५. सिंह, रामगोपाल, डॉ० अम्बेडकर का सामाजिक चिन्तन, जोधपुर १९९९
६. मून बसंत - डॉ० बाबा साहेब अम्बेडकर, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली २००४
७. शर्मा, सीताराम- १९वीं सदी के धर्मिक और सामाजिक आन्दोलन, हिन्दी ग्रन्थावली, भोलपाल १९९७
८. भारती राम विलास - बीसवीं सदी में दलित समाज, अनामिका पब्लिकेशन, नई दिल्ली २०१०